

शहर के भीतर कई शहर

शिरीष खरे

आपने अली बाबा और चालीस चोर की कहानी तो देखी, पढ़ी या सुनी होगी. उसमें एक चोर जब अलीबाबा का घर पहचान लेता है तो उसके बाहर क्रास का निशान लगाकर चल देता है. अगली सुबह चालीस चोर आते हैं. लेकिन हर घर के आगे क्रास का निशान लगा रहता है. इसलिए चालीस चोर मिलकर अली बाबा का घर नहीं खोज पाते. ठीक यही कहानी इस देश के शहरों की हो चुकी है. चाहे मुंबई हो या अहमदाबाद या सूरत. सबके मास्टर प्लॉन एक जैसे हैं. इसलिए अब शहर के भीतर शहर पहचान पाना आसान नहीं रह गया है. सब शहर एक जैसे नजर आते हैं. और शहरों के रहवासियों की दशा अब दुर्दशा में बदल चुकी है.

देश की तरक्की के केन्द्र में बड़े शहर हैं. यह शहर उत्पादन, बाजार और सम्पत्ति के केन्द्र भी हैं. यहां गांव के गरीब बेहतर काम और आमदनी की उम्मीद से आते हैं. इसलिए पूंजी की फितरत और आबादी के बोझ से शहर की सहभागी व्यवस्था उठ नहीं पाती. आखिर एक शहर कई असमानताओं से भरा होता है. उसके कई हिस्सों में भूख, गरीबी और बेकारी जमा होती रहती है. इस तरह शहर का बड़ा भूगोल निरक्षर और बीमार दिखाई देता है. तब समझ नहीं आता कि गांव की गरीबी ज्यादा उलझी है या शहर की!

शहर के भीतर कई शहर होते हैं. पहले दृश्य में साफ-सुथरा, व्यवस्थित और मंहगी कारों से दौड़ता शहर है. वहां के लोगों की सुरक्षित और अधिक आमदनी है. इसलिए उन्हें बेहतर सुविधाएं मिलती हैं. इसलिए उन्हें शहरी तरक्की में मददगार माना जाता है. दूसरे दृश्य में झोपड़पट्टी है. यह गंदा, तंग और भीड़ भरा शहर है. यहां न लोग ही सुरक्षित हैं और न ही उनके काम या घर. झोपड़पट्टियों को तरक्की की राह में रोड़ा समझा जाता है. सार्वजनिक जगहों पर ऐसी झोपड़पट्टियां बनती हैं इसलिए शहर के कई जगहों पर अलग-अलग कानून और विकास योजनाएं चलती हैं. यहां के रहवासियों की मेहनत से शहर का बाजार मुनाफा लेता है. बदले में उसका श्रेय और जायज पैसा नहीं देता. इससे शहरी गरीबी सुधरने की बजाय बिगड़ती है. एक शहर में शोषण के कई दृश्य उभरते हैं.

शहरी गरीबी के पीछे (1) गरीबों की समस्याएं और (2) सरकारी विफलताएं घुली-मिली हैं। गरीबों को 'काम' और 'घर' की तलाश रहती है। देश में असंगठित क्षेत्र से 93 फीसदी मजदूर जुड़े हैं। दूसरी तरफ औपचारिक अर्थव्यवस्था में कम हिस्सेदारी से गरीबी, योग्यता और रचनात्मकता पर बुरा असर पड़ता है। इससे औपचारिक अर्थव्यवस्था में बढ़ोतरी नहीं होती और बेकारी बढ़ती है। इसलिए देश के 5 करोड़ से भी अधिक लोग झोपड़पट्टी में रहते हैं। यह आर्थिक, कानूनी और सामाजिक सुरक्षाओं से दूर हैं। नतीजन पूरा भार शासन पर पड़ता है। क्योंकि ऐसी झोपड़पट्टियां गैरकानूनी कहलाती हैं इसलिए यहां नल और गटर की व्यवस्थाएं नहीं होती। यहां तक सार्वजनिक संसाधन और सेवाएं भी नहीं पहुंचतीं। इससे गरीब और अधिक असहाय तथा बीमार होते हैं। आखिरकार गरीबों की बड़ी तादाद गरीबी के दायरे से बाहर नहीं आ पाती।

शहरी गरीब शहर में रहकर भी उससे दूर रहता है। यह छोटी झुग्गी, फुटपाथ या रेल्वे पटरियों के किनारे होता है। शहरी ताकतों का गठजोड़ उसे एक तरफ धकेलता है। इस ढंग से उसका स्थान, काम और हक नजरअंदाज बनाया जाता है। यहां तक कि उसकी गतिविधियां भी संदेह के घेरे में रहती हैं। शहरी गरीबी मिटाने को लेकर गरीब भी चुप होते हैं और गरीबी मिटाने वाले भी। कभी शहरी विकास तो कभी खूबसूरती के नाम पर चुप्पी को गहरा बनाया जाता है। इस तरह गरीबी की बजाय गरीबों को उखाड़ने की कार्यवाही सहज और शांतिपूर्ण ढंग से चलती है।

इस कार्यवाही के खिलाफ शहरी गरीबों को एकजुट करना मुश्किल होता है। एक तो यह देश के अलग-अलग इलाकों से आए होते हैं। दूसरा धर्म, सम्प्रदाय और जातियों में बंटे रहते हैं। तब गरीबी और गरीबों के भी कई स्तर दिखाई देते हैं। हर स्तर की अलग स्थिति होती है। उनके साधन-संसाधन और सेवा-सुरक्षाएं भी जुदा-जुदा होती हैं। कुल मिलाकर शहरी गरीबी का ढांचा असुंतलित होता जाता है।

सरकार की विफलता को तीन तरह से उजागर होती है। (एक) जमीन की कमी, (दो) सब्सिडी में कमी और (तीन) संसाधनों में कमी। जैसा कि सब जानते हैं कि मुंबई में जमीन बहुत कम और महंगी है। यहां कुल बस्ती का 50 फीसदी हिस्सा झोपड़पट्टी का है। लेकिन यह शहर की सिर्फ 8 फीसदी जमीन पर बसा है। सरकार के मुताबिक हर आदमी के लिए 5 वर्ग मीटर और हर परिवार के लिए 25 वर्ग मीटर जमीन होनी चाहिए। मतलब शहर के गरीब कम जमीन और ढेर सारी परेशानियों के साथ रहता है। इससे उनका काम या धंधा प्रभावित होता है।

नागरिक सुविधाएं मुहैया कराने के लिए सरकार चुनी जाती है. लेकिन इस लिहाज से वह खुद को पीछे और निजी ताकतों को आगे करती है. निजी ताकतों का काम व्यवस्था में सुधार की आड़ में बाजार तैयार करना होता है. बाजार नागरिकों से नहीं उपभोक्ताओं से चलता है. गरीबों के पास अपनी उलझनों को सुलझाने के लिए न तो अधिक पैसा होता है और न ही तकनीकी सूझ या समझ. तकनीकी सूझ या समझ का मतलब यहां कागजी औपचारिकताओं से है.

शहर के लिए तरक्की के मॉडल आम आदमी की भागीदारी से नहीं बनते. यह मॉडल इंजीनियरिंग तो होते हैं लेकिन सोशल नहीं. इसी तरह शहर की शासन व्यवस्था का ढांचा भी नागरिक भागीदारिता से खास रिश्ता नहीं बनाता है. एक तरफ सत्ता के विकेन्द्रीकरण की बात होती है. दूसरी तरफ नगर-निगमों के काम-काज को निजी हाथों में सौंपा जाता है. इससे निगमों का वर्चस्व कम होता है. उनकी भूमिका सिर्फ देखरेख तक सीमित हो जाती है.

इन दिनों वैश्विक ताकतों की सलाह को अहम माना जा रहा है लेकिन नागरिकों के 'संवाद' और 'विरोध' को रोका जा रहा है. गरीबी कम करने के लिए सभी लोगों को आजादी और बराबरी से जीने का मौका देना चाहिए. 74 वें संविधान संशोधन में विकेन्द्रकरण और जनभागीदारिता का जिक्र हुआ है. इसके लिए वार्ड सभा और क्षेत्रीय सभाओं के उल्लेख भी हुए हैं. लेकिन असलियत में शहरी विकास की मौजूदा योजनाओं में जनता की सीधी भागीदारिता न के बराबर है.

किसी शहर को 'लंदन', 'न्यूयार्क' या 'संघाई' बनाने की बातों भर से वहां का नजारा नही बदल जाएगा. इसके लिए तरक्की में सबका और सबको हिस्सा देना होगा. इसके बिना अमीरी-गरीबी के बीच की खाई नहीं भरी जा सकती. लेकिन सरकार ने गरीबी कम करने की खातिर नियम और कानून बदलने का तरीका खोजा है. उदाहरण के लिए मुंबई में सिर्फ 18 हजार लोगों के पास पीला राशन-कार्ड है. इसी तर्ज पर यहां सिर्फ 24 हजार परिवारों को बीपीएल में रखा गया है. यह सरकारी करिश्मा 'गरीबी' के पैमानों को बदलने से हुआ है. एक तरफ गरीबी के नाम पर वोट मांगे जाते हैं और दूसरी तरफ उसकी मौजूदगी को नकारा जाता है. यह राजनैतिक स्थिति का विरोधाभासी चरित्र है.

एक शहर का मतलब उसकी पूरी आबादी से है. इसमें एक छोटे तबके की तरक्की को शहर की तरक्की मान लिया जाता है. लेकिन शहर का बड़ा तबका ऐसी तरक्की से बर्बाद होता है. इस तबके से भी तरक्की की धारणाएं जाननी होगी. यह केवल घर बचाने और बनाने की बात नहीं हैं बल्कि बजट, कारोबार और प्रावधानों में शामिल होने की बात भी है.

XXXXXXXXXX